|| श्रीहरिः ||
वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम् |
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ||

|| श्रीमद्भगवद्गीता विवेचन सारांश ||

अध्याय 6: आत्मसंयमयोग

2/3 (श्लोक 14-30), रविवार, 14 दिसंबर 2025

विवेचक: गीता विशारद श्री श्रीनिवास जी वर्णेकर

यूट्यूब लिंक: https://youtu.be/VdMXkLmzkUw

मन को एकाग्र करने के उपाय

पारम्परिक प्रार्थना, दीप प्रज्वलन तथा श्रीहनुमान चालीसा पाठ के उपरान्त परम पूज्य सद्गुरु स्वामी गोविन्द देव गिरि जी महाराज के श्री चरणों में वन्दन करते हुए तथा सभी गीता प्रेमी, गीता साधकों को हृदय से अभिवादन करते हुए आज के सत्र का शुभारम्भ हुआ।

संन्यास और कर्मयोग, इन दो विषयों को लेकर अर्जुन के मन में बड़ी उलझन है क्योंकि श्रीभगवान् ने प्रारम्भ में ही अर्जुन को ज्ञान का भी माहात्म्य बताया और कर्म का भी माहात्म्य बताया।

ज्ञान का माहात्म्य जानने के पश्चात अर्जुन को भी यही लगा कि "मैं भी यही आत्मज्ञान प्राप्त करके परम कल्याण कर लूँ लेकिन श्रीभगवान् मुझे बार-बार यह युद्ध का कार्य करने के लिए बोल रहे हैं। कर्मयोग का आचरण करने के लिए बोल रहे हैं।"

इसलिए अर्जुन तीसरे अध्याय के प्रारम्भ में प्रश्न पूछते हैं-

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव।।3.1।।

उसका उत्तर पाने के पश्चात भी पाँचवे अध्याय में अर्जुन फिर से प्रश्न पूछते हैं-

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ।।5.1

"संन्यास और कर्मयोग- दोनों की आप प्रशंसा करते हैं। मेरे लिए श्रेय, मेरे लिए हितकारक जो है, वह एक कृपया बताइए।"

श्रीभगवान् ने उसका उत्तर देते हुए अर्जुन को कहा-

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्।।5.4।

"ये ज्ञान मार्ग और कर्म मार्ग वैसे भिन्न नहीं हैं" और इसी का विस्तार करते हुए यहाँ श्रीभगवान् ने बताया है कि

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः।।6.1।।

योगी और संन्यासी, दोनों की बहिरङ्ग अवस्था अलग दिखती होगी। दोनों का बहिरङ्ग कार्य अलग दिखता होगा लेकिन वह दोनों एक ही हैं। वही संन्यासी है और वही योगी है।

योगी बनने के लिए पहले कर्मयोग का आचरण करना आवश्यक है। संन्यास के लिए भी पहले कर्मयोग का आचरण आवश्यक है।

पाँचवें अध्याय में प्रारम्भ में श्रीभगवान् ने अर्जुन को बताया था-

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति।।5.6।।

अयोगता यानी कर्मयोग का आचरण किए बिना लिया गया संन्यास। इससे दुःख ही प्राप्त होने वाला है। वह योग्य नहीं है और इसलिए श्रीभगवान् यहाँ पर पुनः बताते हैं-

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते।।6.3।।

जब तक कोई योग शिखर पर आरूढ़ नहीं होता, योग शिखर पर चढ़कर नहीं पहुँचता, तब तक उसके लिए कर्म के ही सोपान हैं। उसके लिए कर्म का ही मार्ग है। कर्म ही उसके लिए साधन है। कर्मयोग के साधन से ही वह योग शिखर पर आरूढ़ हो सकता है और एक बार योग शिखर पर आरूढ़ हो गया तो अब वह शान्त हो जाता है।

अब शान्तचित्त होकर ध्यान का अभ्यास करना है, ध्यान करना है। ध्यान करने के लिए स्वयं का उद्धार स्वयं को करना है। उस अवस्था तक स्वयं को ही पहुँचना है और इसके लिए स्वयं पर नियन्त्रण लाना, आत्म संयम सीखना, आत्म संयम आचरण में लाना, आत्म संयम पर विजय पाना आवश्यक है।

योगारूढ़ होने के पश्चात जब मनुष्य ध्यान करेगा तो उस ध्यान के लिए स्थान कैसा हो, वह भी हमने पिछली बार देखा।

"**शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य, स्थिरमासनमात्मनः।**
नात्युच्छ्रितं(न्) नातिनीचं(ञ्), चैलाजिनकुशोत्तरम्॥६.११॥"

किसी सन्त द्वारा निर्मित पवित्र, स्वच्छ और शुद्ध स्थान पर अपना आसन जमाकर बैठना है और उसके पश्चात ध्यान करना है-

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये।।6.12

इन्द्रियों की क्रियाओं को, मन को एकाग्र करना है, स्थिर करना है उन पर नियन्त्रण प्राप्त करना है। ये सारी क्रियाएँ अपने वश में रखना है। योग के लिए या ध्यान करने के लिए कैसे बैठना है, यह भी श्रीभगवान् ने बताया।
सबसे महत्वपूर्ण बात उन्होंने बताई -

अपनी काया, अपना शरीर, अपनी गर्दन और अपना सिर, ये एक सीध में होना चाहिए।

आसन, प्राणायाम आदि अभ्यास करके हमें साध्य क्या करना है? आसनों के अभ्यास से शरीर पर नियन्त्रण लाना सीखना है और शरीर पर नियन्त्रण आ गया कि नहीं आया- इसकी एक ही पहचान है।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।

संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्।।6.13

हम पीठ, रीढ़, गर्दन सीधी रखते हुए घन्टों तक सुख के साथ स्थिर बैठ सकते हैं क्या? हमें यह भी देखना है।

आसन की व्याख्या पतञ्जलि महामुनि ने की है।
स्थिर सुखमम् आसनम्। ऐसी अवस्था में स्थिर बैठ सकते हैं तो वह आसन कहलाएगा।
ऐसे आसन लगाकर यदि हम बैठ सकते हैं तो हमें यह समझना चाहिए कि शरीर पर नियन्त्रण आ गया है। ऐसा व्यक्ति कैसा होता है? आइये समझते हैं।

6.14

प्रशान्तात्मा विगतभी:(र्), ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः(स्) संयम्य मच्चित्तो, युक्त आसीत मत्परः॥14॥

जिसका अन्तःकरण शान्त है, जो भयरहित है और जो ब्रह्मचारिव्रत में स्थित है, (ऐसा) सावधान ध्यान-योगी मन का संयम करके मेरे में चित्त लगाता हुआ मेरे परायण होकर बैठे।

विवेचन- **प्रशान्तात्मा** अर्थात् अब चित्त में कोई खलबली नहीं रहती।
चित्त अत्यन्त शान्त हो जाता है।

'**प्रकर्षेण शान्तता इति प्रशान्तः'** अर्थात् जो पूरी तरह शान्त हो। अत्यन्त शान्त चित्त होने पर मन में कोई भय नहीं रहता।

हम संसार के विषयों से जुड़े रहते हैं, इसी कारण मनुष्य के भीतर अनेक प्रकार के भय उत्पन्न होते हैं।

शास्त्रों में कहा गया है
"**रोगे भोगे रोगभयं, कुलेति भयं, वित्ते नपभयं**"।
मनुष्य जब भोग करता है तो उसे रोग का भय सताने लगता है। जब अधिक धन इकट्ठा हो जाता है, तब उसके नष्ट हो जाने का भय लगता है। जब बल या सत्ता प्राप्त होती है, तब उससे छिन जाने का भय उत्पन्न होता है। इस प्रकार भय से मनुष्य मुक्त नहीं हो पाता।

अन्त में कहा गया है "**विष्णु पदं निर्भयम्**"। अर्थात् विष्णु पद ही भय रहित अवस्था है। उस विष्णु पद की प्राप्ति के लिए पहले भय से मुक्त होना आवश्यक है।

जो श्रीभगवान् की शरण में जाता है, वह भय रहित हो जाता है।
इसके बाद कहा गया है **ब्रह्मचारी व्रते स्थितः**। यहाँ प्रश्न उठता है कि गृहस्थ ध्यान कैसे करे? इसका उत्तर है **"ब्रह्मणी चरति स ब्रह्मचारी**"।

चाहे वह गृहस्थ हो या संन्यासी, जो सदा परम ब्रह्म के चिन्तन में रहता है, जिसका चित्त निरन्तर परम ब्रह्म की प्राप्ति में लगा रहता है, वही ब्रह्मचारी है। ऐसा व्यक्ति ब्रह्मचर्य व्रत में स्थित कहलाता है।
ऐसे साधक को मन सञ्यम्य अर्थात् मन को सञ्यमित करना है।

यहाँ "**मतितः**" शब्द बहुत महत्वपूर्ण है। केवल चित्त को एकाग्र करना ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि चित्त को श्रीभगवान् में लगाए रखना आवश्यक है।
जिसका चित्त श्रीभगवान् में युक्त है, जो केवल परमात्मा का ही चिन्तन करता है, वही साधक ध्यान के लिए बैठने योग्य होता है। यहीं से ध्यान की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है।

अब प्रश्न आता है ध्यान कितनी बार करना है और कितनी देर करना है?

6.15

युञ्जन्नेवं(म्) सदात्मानं(म्), योगी नियतमानसः।
शान्तिं(न्) निर्वाणपरमां(म्), मत्संस्थामधिगच्छति॥15॥

वश में किये हुए मन वाला योगी मन को इस तरह से सदा (परमात्मा में) लगाता हुआ मुझमें सम्यक् स्थिति वाली (जो) निर्वाण परम शान्ति है, (उसको) प्राप्त हो जाता है।

विवेचन - इस प्रकार योग में आरूढ़ होकर साधक ध्यान के लिए बैठता है। स्थान कैसा हो? आसन कैसा हो? ये सभी बातें देखने के बाद श्रीभगवान् बताते हैं कि ध्यान कितना करना है?

"एवं सदा" अर्थात् निरन्तर। यहाँ निरन्तर शब्द का विशेष महत्व है। योगाभ्यास कितना करना है? हमारे पूज्यपाद जनार्दन स्वामी महाराज कहते हैं, "योगमेवाऽस्य प्रायथाशक्ति निरन्तरम्"।
अर्थात् योग का अभ्यास यथाशक्ति निरन्तर करना चाहिए।

आसन, प्राणायाम आदि का अभ्यास प्रतिदिन करना आवश्यक है। जितना अधिक अभ्यास करेंगे, उतनी ही शीघ्र अपने लक्ष्य तक पहुँचेंगे। परन्तु इसमें दो बातें महत्वपूर्ण हैं यथाशक्ति और निरन्तर। जैसे प्रतिदिन भोजन करना आवश्यक है और प्रतिदिन स्नान करना आवश्यक है, उसी प्रकार प्रतिदिन योगाभ्यास भी आवश्यक है।

"युञ्जन्नेवं सदा आत्मानं" अर्थात् आत्मा को सदा योग में लगाना चाहिए।

नियत मानस यह शब्द बहुत सुन्दर है। जिसका मन उसके नियन्त्रण में है, जो जहाँ चाहे, वहाँ मन को स्थिर कर सकता है, वही नियत मानस कहलाता है।

ऐसी अवस्था प्राप्त होने पर उस योगी को क्या मिलता है?
"**शान्तिं निर्वाण परमाम्"।** श्रीभगवान् कहते हैं कि जो योगी मत्संस्थाम् अर्थात् मुझ में स्थित है, उसे वही परम शान्ति प्राप्त होती है जो परमात्मा को प्राप्त है। उस परम शान्ति का अनुभव वही योगी करता है।

हमें परमानन्द की प्राप्ति करनी है, सच्चिदानन्द की प्राप्ति करनी है। परन्तु उसके पहले शान्ति की प्राप्ति आवश्यक है। जब तक चित्त अशान्त है, तब तक परमानन्द की प्राप्ति सम्भव नहीं है।

चित्त के शान्त होने के बाद ही परम आनन्द की अनुभूति होती है।
आगे श्रीभगवान् बताते हैं कि किन-किन लोगों को योग सिद्ध नहीं होता। योग के लिए कुछ आवश्यक नियम हैं, जिनके बिना योग सिद्ध नहीं हो सकता।

6.16

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति, न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य, जाग्रतो नैव चार्जुन॥16॥

हे अर्जुन ! (यह) योग न तो अधिक खाने वाले का और न बिलकुल न खाने वाले का तथा न अधिक सोने वाले का और न (बिलकुल) न सोने वाले का ही सिद्ध होता है।

6.17

युक्ताहारविहारस्य, युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य, योगो भवति दुःखहा॥17॥

दुःखों का नाश करने वाला योग (तो) यथायोग्य आहार और विहार करने वाले का, कर्मों में यथायोग्य चेष्टा करने वाले का (तथा) यथायोग्य सोने और जागने वाले का ही सिद्ध होता है।

विवेचन- बिल्कुल न खाने वाले को भी तथा अति स्वप्नशील व्यक्ति का भी योग सिद्ध नहीं होता। अत्यधिक सोने वाले को भी यह सिद्ध नहीं होता। योगाभ्यास करना है तो उस का पहला नियम है कि सूर्योदय के समय योगाभ्यास करना चाहिए। सूर्य निकलने से पहले उठकर स्नान आदि करके योगाभ्यास करना चाहिए। सूर्योदय के पश्चात उठने वाले को योग कभी सिद्ध नहीं हो सकता।
सूर्योदय के पश्चात उठने वाले के शरीर में विषाक्त तत्त्व भी बढ़ते हैं।

हम जब सोते हैं तो हमारे मुँह में लार निर्माण होती है जो रात भर में गाढ़ी होती जाती है। वह लार यदि सूर्योदय के पहले रही तो अच्छी है क्योंकि वह शरीर के लिए पोषक होती है। सूर्योदय के पश्चात वह विघटित होने लगती है और उसके पश्चात जो सोता रहता है उसके लिए वो विषाक्त हो जाती है।

सूर्योदय के पश्चात जो उठते हैं, वे आलस्य में ही उठते हैं। उठने के पश्चात भी उनका आलस्य बना रहता है और जो सूर्योदय से पहले उठते हैं, वे उत्साह के साथ उठते हैं।

अति जागरण करने वाले के लिए भी योग सिद्ध नहीं होता है तो फिर क्या करना चाहिए?

श्रीभगवान् कहते हैं युक्त आहार-विहार करना चाहिए। आहार भी युक्त यानी परिमित।

ज्ञानेश्वर महाराज ने इसके लिए शब्द प्रयोग किया है - परिमित अर्थात् मर्यादित जितना शरीर के लिए आवश्यक है। अब शरीर के लिए आवश्यक कितना है? इसका कोई ऐसा एक ही मानक परिमाण किसी के लिए नहीं हो सकता।

यदि एक अट्ठारह वर्ष का व्यायाम करने वाला युवक है और एक अस्सी वर्ष का वृद्ध है। दोनों का आहार समान नहीं रह सकता। आहार, अपनी आयु अपना कार्य, इन सारी बातों पर निर्भर होता है। इसके लिए एक ही शब्द प्रयोग किया गया है, युक्त यानी परिमित।

विहार यानी हलचल। शरीर द्वारा होने वाली क्रियाएँ भी मर्यादित होनी चाहिए।

जितना आवश्यक है, उतनी होनी चाहिए। अनावश्यक क्रियाओं को टालना चाहिए। अनावश्यक हलचल टालनी चाहिए।

भोजन कितना करना चाहिए? इसके लिए आयुर्वेद ने सबसे सरल उपाय बताया है।
अपने पेट के आधा पेट भोजन, एक चौथाई पेट पानी और एक चौथाई पेट उसमें वायु होना चाहिए। इससे शरीर का कार्य सुचारू रूप से चलता है। श्रीभगवान् ने इन सबके लिए एक ही शब्द दे दिया "युक्त यानी परिमित"।
जितना आवश्यक है उतना ही।

कर्मों में भी चेष्टा अर्थात् कितना व्यवहार करना चाहिए, कितना काम करना चाहिए । बहुत से व्यक्ति बहुत अधिक काम करते हैं और शेष व्यक्ति कहते हैं कि "यह तो कर्म योगी है।" बहुत अधिक काम करने वाला कर्मयोगी नहीं है।
कर्मयोगी कौन है?

जो श्रीभगवान् के अनुसन्धान में अपने सारे कार्य करता है वह कर्मयोगी है।

जो अपने सारे कार्य करते समय "मैं परमात्मा के लिए कर रहा हूँ" यह भाव जागृत रखते हुए, कार्य करता जाता है और उसको भगवान् को अर्पण करते जाता है, वह योगी है। योगी का अर्थ जुड़ा हुआ होता है।
परमात्मा के साथ एकरूप होकर कार्य करना यानी जो "मैं कर रहा हूँ, सारा परमात्मा का ही है, उन्होंने ही मुझे यह काम सौंपा है। मैं सब कार्य भगवान् के लिए कर रहा हूँ।"
इस भाव से जब मनुष्य कर्म करता है, तब उसका योग हो जाता है। वह श्रीभगवान् के साथ जुड़ जाता है। केवल बहुत अधिक काम करने वाला कर्मयोगी नहीं कहलाता।

अङ्ग्रेजी में अच्छा शब्द है - workoholic (वर्कोहोलिक)। जैसे अल्कोहोलिक(alcoholic) होता है, वैसा ही वर्कोहोलिक होता है। वह योगी नहीं होता। इसलिए बहुत अधिक चेष्टा, बहुत अधिक प्रयास, बहुत अधिक कर्म करने वाला भी योगी नहीं होता।

युक्त यानी योग्य स्वप्न अर्थात नींद और अवबोध यानी जागरण
योग्य नींद और योग्य जागरण करने वाले व्यक्ति के लिए योग उसके दुःखों का हरण करने वाला होता है।

अब फिर श्रीभगवान् उसी विषय की ओर आते हैं। ध्यानयोग के लिए, ध्यान के लिए बैठा हुआ योगी कैसा होता है?

6.18

यदा विनियतं(ञ्) चित्तम्, आत्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः(स्) सर्वकामेभ्यो, युक्त इत्युच्यते तदा॥18॥

वश में किया हुआ चित्त जिस काल में अपने स्वरूप में ही स्थित हो जाता है (और) (स्वयं) सम्पूर्ण पदार्थों से निःस्पृह (हो जाता है), उस काल में (वह) योगी है - ऐसा कहा जाता है।

विवेचन- विशेष रूप से नियन्त्रित चित्त को विनियत कहा गया है अर्थात् ऐसा चित्त जो स्वतः ही नियन्त्रण में आ जाता है।

जिसका चित्त सदा परमात्मा में ही लगा रहता है, चाहे वह कोई कार्य कर रहा हो या साधना में बैठा हो, उसे विनियत कहते हैं। यह अवस्था तभी सम्भव होती है जब कर्म करते समय भी चित्त परमात्मा में स्थित रहे।

ऐसा साधक जब ध्यान के लिए बैठता है, तो उसका चित्त अपने आप परमात्मा में लग जाता है और उसे अन्य किसी विषय का स्मरण नहीं रहता। उसका सर्वोच्च ध्येय अर्थात् परमात्मा के साथ चित्त निरन्तर जुड़ा हुआ होता है।

जैसे कोई चित्रकार, कलाकार या वैज्ञानिक अपने कार्य में इतना निमग्न हो जाता है कि उसे बाहरी वस्तुओं का स्मरण नहीं रहता, वैसे ही उसकी अन्य कामनाएँ भी जागृत नहीं होतीं। उसे भूख-प्यास तक का भान नहीं रहता।

उसकी स्पृहा अर्थात् इच्छा भी समाप्त हो जाती है क्योंकि उसे अब किसी अन्य वस्तु की प्राप्ति की चाह नहीं रहती। ऐसे व्यक्ति को ही युक्त कहा जाता है।

6.19

यथा दीपो निवातस्थो, नेङ्गते सोपमा स्मृता।

योगिनो यतचित्तस्य, युञ्जतो योगमात्मनः॥19॥

जैसे स्पन्दन रहित वायु के स्थान में स्थित दीपक की लौ चेष्टा रहित हो जाती है, योग का अभ्यास करते हुए वश में किए हुए चित्त वाले योगी के चित्त की वैसी ही उपमा कही गयी है।

विवेचन-जहाँ दीपक जल रहा हो, वहाँ जितनी वायु आवश्यक है उतनी ही होनी चाहिए, न अधिक न कम।
जैसे मन्दिर के गर्भगृह में दीपक बिना हिले शान्त भाव से प्रज्वलित रहता है और उसकी ज्योति डगमगाती नहीं, वैसे ही जिस योगी ने अपने चित्त पर नियन्त्रण प्राप्त कर लिया है, उसका चित्त भी बिना डावाँडोल हुए परमात्मा में लीन रहता है।

योगी का चित्त दीपक की स्थिर ज्योति के समान अचल हो जाता है।

6.20

यत्रोपरमते चित्तं(न्), निरुद्धं(म्) योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं(म्), पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥20॥

योग का सेवन करने से जिस अवस्था में निरुद्ध चित्त उपराम हो जाता है तथा जिस अवस्था में (स्वयं) अपने आप से अपने आपको देखता हुआ अपने आप में ही सन्तुष्ट हो जाता है।

विवेचन- जिस अवस्था में चित्त जहाँ स्थित होता है वहीं रमण करने लगता है, उस अवस्था का वर्णन पतञ्जलि मुनि ने चित्त की पाँच अवस्थाओं के रूप में किया है।

पहली अवस्था मूढ़ है, जिसमें बुद्धि जड़ हो जाती है और कुछ समझ में नहीं आता।

दूसरी अवस्था क्षिप्त है, जिसमें चित्त सदा इधर-उधर भटकता रहता है।

तीसरी अवस्था विक्षिप्त है, जिसमें चित्त कभी स्थिर होता है और फिर चञ्चल हो जाता है।

चौथी अवस्था एकाग्र है, जिसमें साधक जिस आलम्बन को लेकर ध्यान करता है। उसी मूर्ति, ज्योति या ओंकार पर उसका चित्त स्थिर रहता है। इसमें केवल ध्याता और ध्येय शेष रह जाते हैं।

पाँचवीं और सर्वोच्च अवस्था निरोध कहलाती है। यही चित्त की अन्तिम अवस्था है। इसमें ध्याता और ध्येय एक हो जाते हैं।

इस अवस्था में पतञ्जलि का सूत्र साकार होता है- "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।"

अर्थात् ध्यान करते-करते साधक परमात्मा में इतना एकाकार हो जाता है कि उसे अपने ही स्वरूप का दर्शन होने लगता है। स्वयं में ही परमात्मा का अनुभव होता है, यही सच्चा ध्यान है।

समर्थ रामदास स्वामी ने इसी को कहा है, "पाहणे आपणासी आपण" (स्वामी राम दासजी)

इस अवस्था में साधक सच्चिदानन्द के साथ एकरूप हो जाता है और पूर्ण तृप्ति तथा आनन्द का अनुभव करता है। यह ऐसा सुख है जिसका वर्णन शब्दों में सम्भव नहीं।

त्रिलोक का राज्य या राजसिंहासन भी जिस सुख को नहीं दे सकता, उससे कहीं अधिक सुख इस अवस्था में प्राप्त होता है। यह आनन्द कभी समाप्त नहीं होता।

सुख का विपरीत शब्द दुःख है, किन्तु आनन्द का कोई विपरीत शब्द नहीं होता।

6.21

सुखमात्यन्तिकं(म्) यत्तद्, बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं(म्), स्थितश्चलति तत्त्वतः॥21॥

जो सुख आत्यन्तिक, अतीन्द्रिय (और) बुद्धिग्राह्य है, उस सुखका जिस अवस्था में अनुभव करता है और (जिस सुख में) स्थित हुआ यह ध्यानयोगी तत्त्व से फिर (कभी) विचलित नहीं होता।

विवेचन- यह परम और अन्तिम सुख बुद्धि के द्वारा प्राप्त होता है परन्तु यह इन्द्रियों से परे है इसलिए इसे अतीन्द्रिय (अति इन्द्रिय) सुख कहा गया है।
इस अवस्था में स्थिर होने के बाद साधक को कहीं और जाने की इच्छा नहीं रहती। वह उस परम तत्व से कभी दूर नहीं होता। अष्टाङ्ग योग में इसी अवस्था को समाधि कहा गया है। इससे अधिक प्राप्त करने योग्य कुछ भी शेष नहीं रहता। साधक का ऐसा विश्वास अडिग हो जाता है।

6.22

यं(म्) लब्ध्वा चापरं(म्) लाभं(म्), मन्यते नाधिकं(न्) ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन, गुरुणापि विचाल्यते॥22॥

जिस लाभ की प्राप्ति होने पर उससे अधिक कोई दूसरा (लाभ) (उसके) मानने में भी नहीं आता और जिसमें स्थित होने पर (वह) बड़े भारी दुःख से भी विचलित नहीं किया जा सकता।

विवेचन - ऐसी मान्यता साधक के भीतर दृढ़ हो जाती है कि इसको प्राप्त करने के बाद उससे बढ़कर कोई लाभ या सुख सम्भव नहीं है। उस अवस्था में योगी स्थिर हो जाता है और चाहे कितना ही बड़ा दुःख क्यों न आए, वह विचलित नहीं होता।

गुरु का अर्थ ही महान है और ऐसा परमानन्द प्रदान करने वाला यही योग है।

योगी के जीवन में सुख-दुःख, लाभ-हानि जैसे द्वन्द्व आते अवश्य हैं पर वे उसे विचलित नहीं कर पाते। जबकि सामान्य व्यक्ति उनसे डगमगा जाता है इसलिए ऐसे योग का हमें निरन्तर अभ्यास करना चाहिए।

6.23

तं(म्) विद्याद् दुःखसंयोग, वियोगं(म्) योगसञ्ज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो, योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥23॥

जिसमें दुःखों के संयोग का ही वियोग है, उसी को 'योग' नाम से जानना चाहिये। (वह योग जिस ध्यानयोग का लक्ष्य है,) उस ध्यानयोग का अभ्यास न उकताये हुए चित्त से निश्चयपूर्वक करना चाहिये।

विवेचन - यहाँ श्रीभगवान् बताते हैं कि वो तं(वँ) विद्याद्, उस योग को हमें जान लेना चाहिए।

तं(वँ) अर्थात् उसको, दुःखसंयोग, वियोगं(यँ) योगसञ्ज्ञितम् ,
दुःख के संयोग का वियोग करने वाला जो योग है उस योग को हमें जान लेना चाहिए।

योगाभ्यास से ऐसी अवस्था तक मनुष्य पहुँच सकता है।

"योगासन करने चाहिए, प्राणायाम करना चाहिए, प्रत्याहार का अभ्यास करना चाहिए।"

ऐसा केवल कहने की या पढ़ने की या सुनने की बात नहीं है भगवद्गीता केवल पढ़ने या सुनने का शास्त्र नहीं है या सुनाने का का भी शास्त्र नहीं है।

इसलिए पूज्य स्वामी जी कहते हैं गीता का अभ्यास करना है तो गीता पढ़ें, पढ़ाएं जीवन में लाएं। उसको आचरण में लाना चाहिए।

आचरण में कैसे लाएं? श्रीभगवान् कहते हैं-

स निश्चयन योक्तव्यो योगो निरिन चेतसा।

योग निश्चयन युक्तव्य, योग निश्चय पूर्वक करना चाहिए। रोज कुछ ना कुछ योगाभ्यास करना चाहिए। अष्टाङ्ग योग का अभ्यास भी रोज कुछ ना कुछ करना चाहिए। यम, नियम, आसन, प्राणायाम का अभ्यास रोज करना चाहिए।

हमारे पूज्य जनार्दन स्वामी महाराज ने सुन्दर सन्देश दिया है। यदि नर को नारायण बनना है, उसके साथ एकरूपता साधनी है तो क्या करना है?

"नराचा होतो नारायण, करा हो नियमित योगासन।"

पहले योगासन तो करना शुरू करो। स्वयं में होने वाला परिवर्तन अपने-आप दिखेगा।

यदि हम कल से योगाभ्यास शुरू करेंगे, किसी योग्य शिक्षक से सीख कर आसनों का अभ्यास शुरू करेंगे तो आठ दिनों में हमको अपने स्वयं में होने वाला परिवर्तन दिखने लगेगा। महीने भर में और दिखेगा, साल भर में और दिखेगा और यह परिवर्तन होता ही जाएगा।

स्वयं में होने वाला सकरात्मक बदलाव (Positive Changes) हम अनुभव कर सकेंगे। यह तभी होगा जब हम योग निश्चय पूर्वक करेंगे।

स निश्चयेन योक्तव्यो, योगोऽनिर्विण्णचेतसा

योग अनिर्ण चेतसा यानी उकता कर नहीं चलेगा। बिना उकताए, निश्चय पूर्वक प्रतिदिन यदि मनुष्य योगाभ्यास करेगा तो वह इसकी अनुभूति स्वयं ले सकेगा।

श्रीमद्भगवद्गीता एक योग शास्त्र है।

शास्त्र का अर्थ क्या है, यह हम जानते हैं। रसायन शास्त्र, भौतिक शास्त्र, जीव शास्त्र ये शब्द हम जानते हैं, वैसे ही यह योग शास्त्र है।

यह परमात्मा के साथ एकरूप होने का विज्ञान (Science) है और यदि Science है तो प्रयोग (Practical) आवश्यक है।
बिना प्रैक्टिकल से विज्ञान समझ में नहीं आता।

वैसे ही योगाभ्यास किए बिना यह छठवाँ अध्याय तो बिल्कुल समझ में नहीं आ सकता।

आज ही हम सङ्कल्प करें कि योगाभ्यास करेंगे। यदि कोई नहीं कर रहा है तो कुछ न कुछ योगासन अभ्यास आरम्भ करने का सङ्कल्प करना चाहिए।
यह अध्याय यदि आचरण में लाना है तो क्या करना होगा, वह अगले श्लोक में श्रीभगवान् हमें बताते हैं।

6.24

सङ्कल्पप्रभवान्कामांस्, त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं(म्), विनियम्य समन्ततः॥24॥

संकल्प से उत्पन्न होने वाली सम्पूर्ण कामनाओं का सर्वथा त्याग करके (और) मन से ही इन्द्रिय-समूह को सभी ओर से हटाकर।

विवेचन -उस योगी को योगाभ्यास कैसे करना चाहिए, यह हमने देखा। अब भगवान् का ध्यान कैसे करना चाहिए, यह श्रीभगवान् स्वयं बता रहे हैं।

परमात्मा का ध्यान कैसे करना चाहिए?

सर्वान काम, सारी कामनाओं का त्याग होना चाहिए। अब कोई कामना मन में नहीं रहनी चाहिए। "अब यह करने का रह गया, वह करने का रह गया, यह एक इच्छा है, वह एक इच्छा है", ऐसी कामना मन में रहेगी तो ध्यान नहीं हो सकता।

ये कामनाएँ कहाँ से उत्पन्न होती हैं?
श्रीभगवान् कहते हैं कि कामना, सङ्कल्प से उत्पन्न होती है।

पहले कामना आती है कि पहले सङ्कल्प आता है?
सङ्कल्प का अर्थ है, **सम्यक कल्पते।** मन में पहले सङ्कल्पना आती है कि यह अच्छा है और फिर कामना जागृत होती है कि यह मुझे चाहिए। जब सङ्कल्प से प्रभव यानी संङ्कल्प के कारण उत्पन्न होने वाली सारी कामनाओं का भाव आता है तो कामना जाग जाती है। कोई अच्छेपन का भाव आ गया तो ठीक है, लेकिन यह चाहिए वह चाहिए, ऐसी कामनाओं का पूर्णत: त्याग होना चाहिए। इस सङ्कल्प से कामना का निर्माण होता है।

इन्द्रियग्राम अर्थात इन्द्रियों का समूह
विनियम्य, विशेष प्रयत्न से उनको नियन्त्रित करना है।

अपनी इन्द्रियों को नियन्त्रित करना है तो यह केवल हमारा मन ही कर सकता है। मन को नियन्त्रित केवल बुद्धि कर सकती है और बुद्धि को तेज (sharpen) करना है तो भगवद्गीता का अध्ययन एक महत्वपूर्ण साधन है। भगवद्गीता से बुद्धि को तेज करके मन पर नियन्त्रण लाकर मन के द्वारा इन इन्द्रियों को नियन्त्रित करना है।
हम जो चाहेंगे वह इन्द्रियाँ नहीं करेंगी। मन जो चाहगा वह ही इन्द्रियाँ करेंगी। वह मन, जो परमात्मा में लगा हुआ है तो जो परमात्मा की इच्छा है वही मन करेगा इसलिए इन्द्रियों पर पूर्णत नियन्त्रण आ जाता है।

मन तथा सभी ओर से हमको इन्द्रियों को नियन्त्रित करना है इसलिए पहले मन पर नियन्त्रण आवश्यक है।

क्योंकि मन तो ऐसा है कि **मना कल्पना कल्पिता कल्प कोटि, नव्हे रे नव्हे सर्वथा राम भेटी।**

कल्पनाएँ तो बहुत उठेंगी, सङ्कल्प तो बहुत उठेंगे। लगेगा, यह अच्छा है, वह अच्छा है।
"मुझे वह सब नहीं चाहिए मुझे केवल राम चाहिए बाकी कुछ नहीं, मुझे वह कृष्ण चाहिए। मुझे वह शिव, वह परमात्मा चाहिए जिनके सिवाय अन्य कुछ भी मुझे अच्छा नहीं लग रहा", जब यह अवस्था आती है तब मनुष्य ध्यान कर सकता है, इसके अतिरिक्त वह ध्यान नहीं कर सकता।

अष्टाङ्ग योग में ध्यान सातवाँ सोपान है। आठवाँ सोपान समाधि है।

यदि परमात्मा के साथ एकरूपता है तो सातवेँ सोपान तक जाने के लिए भगवान ने जो पहले बताया वह बात पहले ध्यान में रखनी है।

सनिश्चयन युक्तव्यो योग निर्वण्णचेतसा।

अनिर्ण चेतसा, न उकताते हुए नियमित रूप से रोज योगाभ्यास करते रहना चाहिए।

क्या यह अवस्था एकदम से प्राप्त हो जाएगी?
एकदम से तो कुछ मिलने वाला नहीं है। "आज से मैंने आसन, प्राणायाम शुरू कर दिया, अब मेरा चित्त स्थिर हो गया", ऐसा नहीं होने वाला है।
यह धीरे-धीरे होगा। यह स्वयं में होने वाला, धीरे-धीरे होने वाला वह परिवर्तन है जो इतना आनन्ददायक है कि मानो परमानन्द की ही प्राप्ति हो रही हो। यह बात भी उतनी सही है। प्रतिदिन करने से धीरे- धीरे इसका अनुभव होने लगता है। यह योग का अनुभव, योग का मार्ग ही आनन्ददायक है और इस मार्ग से जहाँ पहुँचेंगे, वहाँ जाकर तो परमानन्द ही है।
परमानन्द की प्राप्ति का जो मार्ग है यह मार्ग भी आनन्ददायक है।

6.25

शनैः(श्) शनैरुपरमेद्, बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं(म्) मनः(ख्) कृत्वा, न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥25॥

धैर्ययुक्त बुद्धि के द्वारा (संसार से) धीरे-धीरे उपराम हो जाय (और) मन (बुद्धि) को परमात्मस्वरूप में सम्यक् प्रकार से स्थापन करके (फिर) कुछ भी चिन्तन न करे।

विवेचन - बुद्धि के द्वारा अपने मन को श्रीभगवान् में लगाना है। यदि बुद्धि परिपक्व नहीं है तो फिर काम नहीं होगा। बुद्धि का परिपक्व होना आवश्यक है।

हमारी संस्कृति में इसके लिए बहुत से उपाय हैं जिनसे बुद्धि परिपक्व होगी, धैर्यशाली होगी। जैसे एकादशी व्रत है, चतुर्थी व्रत है, जिनसे हम अपनी बुद्धि के धैर्य को बढ़ा सकते हैं।

इस तरह के धैर्य के द्वारा हम बुद्धि को ईश्वर में स्थापित कर सकते हैं। मन जब परमात्मा में लग जाता है तो फिर कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं परन्तु यह इतना सरल भी नहीं है।

मन को एक स्थान पर स्थापित करने पर वह नहीं मानेगा। मन इधर-उधर दौड़ लगाए, यह तो उसका स्वभाव ही है। श्रीभगवान् उसके लिए भी उपाय बता रहे हैं।

6.26

यतो यतो निश्चरति, मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतद्, आत्मन्येव वशं(न्) नयेत् ॥26॥

(यह) अस्थिर (और) चंचल मन जहाँ-जहाँ विचरण करता है, वहाँ-वहाँ से हटाकर इसको (एक) परमात्मा में ही भली भाँति लगाये।

विवेचन- बुद्धि के द्वारा अपने मन को श्रीभगवान् में लगाना है। यदि बुद्धि परिपक्व नहीं है, तो यह कार्य सम्भव नहीं होता। इसलिए बुद्धि का परिपक्व होना अत्यन्त आवश्यक है।
हमारी संस्कृति में इसके लिए अनेक उपाय बताए गए हैं, जिनसे बुद्धि परिपक्व तथा धैर्यशील बनती है। जैसे,एकादशी व्रत,

चतुर्थी व्रत आदि। इन व्रतों के माध्यम से हम अपनी बुद्धि के धैर्य को बढ़ा सकते हैं।
इस प्रकार धैर्ययुक्त बुद्धि के द्वारा हम अपनी बुद्धि को ईश्वर में स्थापित कर सकते हैं। जब मन परमात्मा में स्थिर हो जाता है, तब फिर किसी भी प्रकार के अतिरिक्त प्रयास की आवश्यकता नहीं रहती।
किन्तु यह प्रक्रिया जितनी सरल प्रतीत होती है, उतनी वास्तव में है नहीं। मन को एक स्थान पर स्थापित करने पर वह सहजता से नहीं मानता। इधर-उधर दौड़ लगाना तो उसके स्वभाव में ही है।
इसी स्वभाव को ध्यान में रखते हुए श्रीभगवान् मन को स्थिर करने के लिए आगे उपाय बताते हैं।

6.27

प्रशान्तमनसं(म्) ह्येनं(म्), योगिनं(म्) सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं(म्), ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥27॥

जिसके सब पाप नष्ट हो गये हैं, जिसका रजोगुण शान्त हो गया है (तथा) जिसका मन सर्वथा शान्त (निर्मल) हो गया है, (ऐसे) इस ब्रह्मरूप बने हुए योगी को निश्चित ही उत्तम (सात्त्विक) सुख प्राप्त होता है।

विवेचन- इस अवस्था में मन अत्यन्त शान्त हो जाता है। उसे उत्तम शान्ति की प्राप्ति होती है और साथ ही अत्यधिक सुख भी प्राप्त होता है।

यह उत्तम सुख की प्राप्ति तब होती है जब रजोगुण शान्त हो जाता है। रजोगुण का ही कार्य है मन को यहाँ-वहाँ भटकाना और चञ्चल बनाए रखना।

वास्तव में हमारा शरीर इन तीनों गुणों सत्त्व, रजस् और तमस् से ही बना हुआ है। ध्यान के अभ्यास से रजोगुण शान्त हो जाता है और चित्त परमात्मा में स्थिर हो जाता है।

ऐसी अवस्था प्राप्त होने पर योगी परम सुख को प्राप्त कर लेता है। इस अवस्था को प्राप्त हुआ योगी कैसा रहता है, इसका वर्णन हम अगले श्लोक में देखते हैं।

6.28

युञ्जन्नेवं(म्) सदात्मानं(म्), योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शम्, अत्यन्तं(म्) सुखमश्नुते॥28॥

इस प्रकार अपने आपको सदा (परमात्मा में) लगाता हुआ पाप रहित योगी सुखपूर्वक ब्रह्म प्राप्ति रूप अत्यन्त सुख का अनुभव कर लेता है

विवेचन- जब मन में गलत विचार उत्पन्न ही नहीं होते, तब पाप कैसे होगा? वास्तव में मन में आने वाला गलत विचार ही पाप का कारण बनता है। जिसके चित्त में कल्मष रहता ही नहीं, उसके लिए पाप का प्रश्न ही नहीं उठता।
जब चित्त श्रीभगवान् में पूर्ण रूप से लग जाता है, तब मन में गलत विचार आने का कोई आधार नहीं रहता। श्रीभगवान् में स्थित चित्त के कारण ऐसी पावन अवस्था की प्राप्ति होती है।

ऐसा योगी बार-बार अपना मन श्रीभगवान् में लगाए रखता है। इस प्रकार निरन्तर अभ्यास करते हुए वह सहज रूप से परब्रह्म के स्पर्श का अनुभव करता है। यहाँ 'स्पर्श' का अर्थ है श्रीभगवान् से जुड़ जाने की अवस्था।

श्रीभगवान् के निकट जाते-जाते योगी को उनके साथ एकाकारिता का अनुभव होने लगता है। इस प्रकार वह अत्यधिक सुख का अनुभव करता है। यह ऐसा सुख है, जिसकी अनुभूति शब्दों में व्यक्त नहीं की जा सकती।

ऐसे योगी की दृष्टि कैसी हो जाती है और उसे क्या-क्या अनुभव होता है, इसका वर्णन श्रीभगवान् अगले श्लोक में करते हैं।

6.29

सर्वभूतस्थमात्मानं(म्), सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा, सर्वत्र समदर्शनः॥29॥

सब जगह अपने स्वरूप को देखने वाला और ध्यानयोग से युक्त अन्तःकरण वाला (सांख्ययोगी) अपने स्वरूप को सम्पूर्ण प्राणियों में स्थित देखता है (और) सम्पूर्ण प्राणियों को अपने स्वरूप में (देखता है)।

विवेचन-यह योगी चाहे ध्यान में बैठा हो या न बैठा हो, आँखें खोली हों या बन्द रखी हों—उसे केवल और केवल परमात्मा ही दिखाई देते हैं। परमात्मा के साथ पूर्ण रूप से जुड़कर वह योगात्मा बन जाता है।
सभी भूत तत्त्वों में स्थित आत्मतत्त्व उसे स्पष्ट दिखाई देता है। भूततत्त्व उसे अलग-अलग नहीं प्रतीत होते, अपितु सभी एकरूप दिखाई देने लगते हैं। उसे सभी भूततत्त्वों में परमात्मा का दर्शन होने लगता है और परमात्मा में ही सभी भूततत्त्व दृष्टिगोचर होते हैं।

जिस प्रकार एक्स-रे अथवा एम्.आर.आई. के द्वारा देह के अङ्ग स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं, उसी प्रकार यह योगी सभी जीवात्माओं में श्री भगवान के अंश का दर्शन करता है। बाहरी रूप-आकार चाहे जैसा भी हो, उसे केवल एक ही आत्मतत्त्व दिखाई देता है।

जे जे भेटे भूत ते ते माने भगवंत।

अर्थात् जो कुछ भी दिखाई देता है, उन सभी में परमात्मा का ही अंश दिखाई देता है। सन्त ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं,

जैसे तन्तु एक वस्त्रात
तैसे मीच एक सर्वत्र व्याप्त।
ऐसे समदृष्टिने झाले ज्ञात
अर्जुनाच्या॥

जिस प्रकार वस्त्र एक ही धागे से बना होता है, उसी प्रकार यह सम्पूर्ण संसार परमात्मा रूपी एक ही तत्त्व से व्याप्त है। वही परमात्मा योगी को सर्वत्र दिखाई देने लगते हैं।

6.30

यो मां(म्) पश्यति सर्वत्र, सर्वं(ञ्) च मयि पश्यति।
तस्याहं(न्) न प्रणश्यामि, स च मे न प्रणश्यति॥30॥

जो (भक्त) सब में मुझे देखता है और मुझमें सबको देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता।

विवेचन- , श्रीभगवान् कहते हैं कि कोई व्यक्ति मुझे सर्वत्र देखता है और सभी में देखता है क्या यह सम्भव है?
यदि कोई विज्ञान का विद्यार्थी हो, तो उसमें विज्ञान की दृष्टि विकसित हो जाती है। विज्ञान की दृष्टि से देखने पर एक ही तत्त्व के तीन रूप दिखाई देते हैं। विज्ञान कहता है कि सबसे सूक्ष्म कण परमाणु है और परमाणु के भीतर तीन घटक होते हैं- इलेक्ट्रॉन, प्रोटॉन और न्यूट्रॉन। ऐसे में वह किसी भी वस्तु को देखे, तो उसके मन में इन्हीं कणों की कल्पना होती है।

इसी प्रकार जब अध्यात्म की दृष्टि विकसित हो जाती है, तब सर्वत्र परमात्मा का ही अंश दिखाई देने लगता है। तब जो सबमें मुझे देखता है और मुझमें सबको देखता है, उसके लिए यह स्पष्ट हो जाता है कि सम्पूर्ण संसार परमात्मा से ही व्याप्त है। इसी

का विस्तृत वर्णन ग्यारहवें अध्याय में श्रीभगवान् ने बताया है।

ऐसे व्यक्ति के लिए श्रीभगवान् कभी अदृश्य नहीं होते और वह भी श्रीभगवान् के लिए अदृश्य नहीं रहता। इस प्रकार योगी और परमात्मा एक-दूसरे को देखते हुए सन्तुष्ट हो जाते हैं। यह दृष्टि ज्ञानदृष्टि है।

एक उदाहरण से इसे समझा जा सकता है। एक देहाती व्यक्ति शहर पहुँचा। उसने एक दुकान पर लिखा हुआ बोर्ड देखा और किसी से पूछा कि यहाँ क्या लिखा है। उसे बताया गया कि यहाँ पढ़ने के चश्मे मिलते हैं। वह व्यक्ति दुकान के भीतर गया, आँखों की जाँच करवाई और उसे पढ़ने का चश्मा दे दिया गया। पढ़ने के लिए कुछ दिया गया तो वह कहने लगा कि वह पढ़ना ही नहीं जानता। तब उसे बताया गया कि जब पढ़ना आता ही नहीं तो चश्मा लगाने का क्या लाभ। जब तक अनुभूति नहीं होती, तब तक यह बात समझ में नहीं आती।

इसी प्रकार अनुभूति के लिए निरन्तर योगाभ्यास करना आवश्यक है। इस अध्याय से हमें यही सीख लेनी है कि स्वयं को नियन्त्रित करते हुए नियमित रूप से कुछ न कुछ योग करते रहना चाहिए। जितना अधिक अभ्यास होगा, उतनी ही हमारी आध्यात्मिक गति तीव्र होगी।

आज की स्थिति तो यह है कि श्री भगवान की मूर्ति को देखकर भी हमें दर्शन का लाभ नहीं होता।

एक बार पूज्य स्वामी जी के साथ कुछ भक्त कन्याकुमारी गए थे। वहाँ एक भक्त मूर्ति को देखकर कहने लगा "स्वामी जी, देखिए मूर्ति के नाक में वह हीरा कितना चमक रहा है।" स्वामी जी ने उससे पूछा "देवी के दर्शन करने आए हो या हीरा देखने?" कहने का तात्पर्य यह है कि हम भक्ति को भूलकर केवल बाहरी चमक में उलझ जाते हैं।

जो सच्चा योगी होता है, वह सम्पूर्ण संसार में परमात्मा को ही देखता है। ऐसा न सोचें कि यह दृष्टि किसी को प्राप्त नहीं हो सकती, परन्तु इसके लिए निरन्तर योगाभ्यास आवश्यक है।

योगमेवाभ्यसे प्राज्ञाय यथाशक्ति निरन्तर।
गीता स्वयं योगाभ्यास है। गीता का अभ्यास कैसे किया जाए और उसे अपने जीवन में कैसे उतारा जाए—इसका अभ्यास निरन्तर करते रहना चाहिए।

मलनिर्मोचनं पुंसां जलस्नानं दिने दिने।
सकृत् गीताम्भसि स्नानं संसारमलनाशनम्॥

जिस प्रकार शरीर पर लगे मल को हटाने के लिए हम प्रतिदिन स्नान करते हैं, उसी प्रकार हमें प्रतिदिन भगवद्गीता में स्नान करना चाहिए। सन्त एकनाथ महाराज कहते हैं—

"**रोज एक तरी ओवी अनुभवावी।"**

अर्थात् प्रतिदिन कम-से-कम एक श्लोक पढ़ना चाहिए, उसे समझने का प्रयास करना चाहिए और उसे अपने आचरण में लाना चाहिए। जब हम स्वयं कुछ सीखते हैं तो उसे दूसरों को भी सिखाना चाहिए क्योंकि सिखाते हुए हम स्वयं भी सीखते हैं।

"Teaching is the best way of learning."
स्वामी जी भी यही सूत्र देते हैं - गीता पढ़ें, पढ़ाएँ और जीवन में लाएँ।

इसी के साथ आज का सत्र समाप्त हुआ और प्रश्नोत्तर आरम्भ हुए।

प्रश्नोत्तर

प्रश्नकर्ता- नन्दिनी दीदी
प्रश्न - मुझे सत्रहवाँ श्लोक दोबारा से समझा दीजिए। इसमें श्रीभगवान् क्या कह रहे हैं?
उत्तर - सत्रहवाँ श्लोक है

"युक्ताहारविहारस्य, युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य, योगो भवति दुःखहा॥६.१७॥"

हम लोग ज्यादातर सोते हुए ही स्वप्न देखते हैं। कुछ लोग जागते हुए भी देखते हैं पर अधिकतर स्वप्न हमें सोते हुए ही दिखते हैं। इस श्लोक में श्रीभगवान् कहते हैं कि हमें ज्यादा नींद भी नहीं लेनी चाहिए और ज्यादा जागना भी नहीं चाहिए। युक्त का अर्थ है ज्यादा भी नहीं और कम भी नहीं।
बोधस्य का अर्थ है जागृत अवस्था।
जो इस प्रकार युक्त हो करआचरण करेगा, उसको दुःख नहीं होगा।
यथायोग्य सोने और जागने वाला आचरण दुःख हरने वाला होता है।

प्रश्नकर्ता - वैजन्ती दीदी
प्रश्न - मैं आजकल ध्यान (मेडिटेशन) करती हूँ, जिसमें मैं एक पानी के स्थान (झील) पर अपना ध्यान लगाती हूँ और यह मैं किसी की देखरेख में करती हूँ जो इक्कीस मिनट तक चलता है।
क्या यह सही है या मुझे भगवान की मूर्ति में ध्यान लगाना चाहिए?
उत्तर - अभी आप जो कर रही हैं, वह ध्यान का अभ्यास है, ध्यान नहीं है। हम जब किसी के देखरेख में और मार्गदर्शन में ध्यान करते हैं तो वह ध्यान नहीं है। यह ध्यान का अभ्यास है। यह एक तरीके की ट्रेनिंग है, प्रशिक्षण है।
अभी आप मेडिटेशन(ध्यान) का प्रशिक्षण ले रही हैं। आपको देखना होगा कि क्या आप श्रीभगवान् के बताए हुए तरीके से ध्यान में बैठ पा रही हैं।

तेरहवें श्लोक में श्रीभगवान् ने कहा है

"समं(ङ्) कायशिरोग्रीवं(न्), धारयन्नचलं(म्) स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं(म्) स्वं(न्), दिशश्चानवलोकयन्॥६.१३॥"

आपको देखना होगा कि आप इस अवस्था में कितनी देर तक बैठ सकती हैं?

इससे पहले भी श्रीभगवान् ने योग में योगारूढ़ होने की अवस्था बताई है

"आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं(ङ्), कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव, शमः(ख्) कारणमुच्यते॥६.३॥"

अभी आप सिर्फ ध्यान लगाने का अभ्यास कर रही हैं, अभी आप ध्यान नहीं लगा पा रही हैं।
ध्यान करने के कई तरीके होते हैं। इसमें मुख्यतः मन को एक जगह पर स्थिर किया जाता है।

योगारूढ़ होने के बाद ही असली ध्यान होता है। इसके लिए सर्व सङ्कल्प सन्यासी बनना होगा। इस अवस्था में मन में कोई सङ्कल्प और विकल्प नहीं उपजते।

इस अवस्था में भगवद् प्राप्ति के अतिरिक्त और कोई इच्छा नहीं रह जाती। जब ऐसी अवस्था आ जाती है तब व्यक्ति योगारूढ़

हो गया, हम ऐसा कह सकते हैं।
आप जो ध्यान का अभ्यास कर रही हैं वह करते रहना चाहिए। इसके अतिरिक्त प्राणायाम भी करना चाहिए। बिना आसान किये हम अपने शरीर पर नियन्त्रण नहीं कर सकते।
प्राणायाम से हम अपने मन को एक स्थान पर स्थित करने का प्रयास करते हैं। प्राणायाम में विशेष ध्यान हमारे मस्तिष्क पर रहता है। हमें उसे वायु के साथ जोड़ना है। वायु के साथ मन को भी जोड़ना है और देखना है कि वायु कहाँ से कहाँ तक गया। फिर जब श्वास छोड़ते हैं तब भी ध्यान रखना है कि वह कहाँ तक गया। यह भी एक मन का ही प्रशिक्षण (ट्रेनिंग) है।

हम ध्यान तो थोड़े समय के लिए ही करते हैं। हमें अपने मन को हमेशा भगवान् में लगाए रखना चाहिए।

हमें सीखना होगा कि हमारा हर कार्य भगवान् को समर्पित होना चाहिए। यह भाव रख के कार्य करें कि मैं जो भी कर रहा हूँ, सब भगवान् के लिए ही कर रहा हूँ।
हर एक कार्य को करने के बाद उसे भगवान् को अर्पण कर देना चाहिए। इससे हम दिन भर भगवान् के साथ जुड़े रहते हैं।

इसी के साथ समापन प्रार्थना और श्री हनुमान चालीसा पाठ के साथ आज के सुन्दर सत्र का समापन हुआ।

हमें विश्वास है कि आपको विवेचन की रचना पढ़कर अच्छा लगा होगा। कृपया नीचे दिए लिंक का उपयोग करके हमें अपनी प्रतिक्रिया दीजिए।

https://vivechan.learngeeta.com/feedback/

विवेचन-सार आपने पढ़ा, धन्यवाद!
हम सब गीता सेवी, अनन्य भाव से प्रयास करते हैं कि विवेचन के अंश आप तक शुद्ध वर्तनी में पहुंचे। इसके बाद भी वर्तनी या भाषा संबंधी किन्हीं त्रुटियों के लिए हम क्षमा प्रार्थी हैं।

जय श्री कृष्ण !
संकलन: गीता परिवार - रचनात्मक लेखन विभाग

हर घर गीता, हर कर गीता!
Let's come together with the motto of Geeta Pariwar, and gift our Geeta Classes to all our Family, friends & acquaintances

https://gift.learngeeta.com/

गीता परिवार ने एक नवीन पहल की है। अब आप पूर्व में सञ्चालित हुए सभी विवेचनों कि यूट्यूब विडियो एवं पीडीऍफ़ को देख एवं पढ़ सकते हैं। कृपया नीचे दी गयी लिंक का उपयोग करे।

https://vivechan.learngeeta.com/

|| गीता पढ़े, पढ़ायें, जीवन में लाये ||

||ॐ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ||